शाला का पुस्तकालय तब से अब तक

शोभा वाजपेयी

स्कूल में सक्रिय लायब्रेरी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संसाधन होती है। यह बच्चों में न सिर्फ पढ़ने की आदत विकसित करने में मदद करती है बल्कि इसके ज़रिए बच्चों को पाठ्य पुस्तकों से आगे बढ़कर जानने और समझने का मौका मिलता है। हालाँकि स्कूल में लायब्रेरी शुरू कर उसे चलाए रखना मशक्कत का काम है। हम जानेंगे एक लायब्रेरी की कहानी, एक टीचर की ज़ुबानी।

हरदा ज़िले की एक ग्रामीण शाला, शासकीय माध्यमिक शाला ऊड़ा, जहाँ पढ़ाते हुए 26-27 साल कब बीत गए पता ही नहीं चला। इन सालों में कई परिवर्तन हुए और इसके साथ-साथ बदलता गया हमारी शाला के पुस्तकालय का स्वरूप और आज ये अपने आप में एक कहानी है।

किताबें मुझे बचपन से ही आकर्षित करती रहीं और पढ़ने-लिखने का माहौल भी घर में रहा। इसके चलते कई बार शिक्षा के औपचारिक स्तर से आगे जा कर सीखने और समझने के अवसर मिले। बचपन के दिनों में सोचा करती थी कि जब कभी कमाऊँगी तो दादा (पिताजी) को खूब सारी किताबें ला कर दूँगी क्योंकि उन्हें भी पढ़ने का बहुत शौक था व एक छोटी-सी लायब्रेरी हमारे घर में भी थी। और तभी से एक लायब्रेरी विकसित करना मेरा सपना रहा।

जब गाँव के स्कूल में पढ़ाना शुरू किया तो पाया कि बच्चों को पाठ्य पुस्तकों के अलावा कुछ भी पढ़ने को नहीं मिलता था। अखबार भी गाँव में बहुत कम घरों में आते थे। इसी दौरान एकलव्य संस्था, जो कि शिक्षा के क्षेत्र में काफी नवाचार कर रही थी, में आना-जाना शुरू हुआ। हमारी शाला में सामाजिक विज्ञान के नवाचार के कार्यक्रम की शुरुआत 1986 से हुई थी, इसके अगले साल ही मुझे उससे जुड़ने का अवसर मिला। संस्था में बड़ों के साथ बच्चों के लिए भी पुस्तकालय संचालित होता था। मैं सोचती थी कि काश स्कूल के बच्चों को भी किताबें पढ़ने को मिलें, जिससे उनको भी देश-दुनिया की जानकारी

के साथ-साथ मनोरंजन का अवसर भी मिल जाएगा। एकलव्य का एक ऑफिस हरदा में भी था पर उस समय तो बच्चों का, खासकर लड़कियों का, हरदा आना बहुत मुश्किल था। तब एकलव्य के तत्कालीन साथियों की सलाह पर स्कूल में ही एक पुस्तकालय चलाने का विचार किया। ये उस दौर की बात है जब स्कूलों में किसी भी तरह के फण्ड नहीं होते थे और अगर होते भी तो उन पर सिर्फ हेडमास्टर साहब का ही अधिकार होता था। शाला विकास निधि के द्वारा जो राशि एकत्र होती (जो कि बहुत कम होती थी) उसे खर्च करना या करवाना मेरे अधिकार में नहीं था। बिना पुस्तकें खरीदे पुस्तकालय कैसा? तब एकलव्य से किताबें लेकर बच्चों को देने की योजना बनी। बेहतर तो यही होता कि बच्चों को रोज़ ही किताबें मिलतीं और उनसे इनमें वर्णित विषयों पर चर्चा भी होती, पर व्यवहारिक रूप से ऐसा करना आसान नहीं था।

मानस पाठ और पुस्तकालय

उन दिनों हमारे स्कूल में शनिवार को बालसभा में रामचरितमानस का पाठ होता था। यह परम्परा सन् 1977 से चल रही थी। जब मैंने ऊड़ा स्कूल ज्वाइन किया (27.7.86) तब मुझे उसका संचालक बनाया गया और अब रामचरितमानस का पाठ सुचारू रूप से करवाना मेरी ज़िम्मेदारी थी। इसमें बारी-बारी से बच्चे प्रसाद और आरती की ज़िम्मेदारी लेते थे। आरती में जो 10-5 रु. आते उनका हिसाब रखना मेरा काम होता। इन पैसों को हम रामचरितमानस के गुटके आदि खरीदने में खर्च करते थे। स्कूल, हमारी लोकतांत्रिक सरकार की एक व्यवस्था है जो धर्मनिरपेक्षता की वकालत करती है। परन्तु इस परम्परा को बन्द करना तो मुश्किल था अस्तु मानस पाठ के बाद पुस्तकालय का संचालन तय किया गया। एकलव्य से कुछ पुस्तकें ली गईं और बच्चों को पढ़ने को दी जाने लगीं। ये शायद 1989-90 की बात है। अगले 3-4 सालों तक रामचरित-मानस का पाठ और लायब्रेरी, दोनों का संचालन हर शनिवार को होता रहा। एक पेटी में हमारी पुस्तकें रखी होती थीं। कुछ बच्चे जो क्लास कैप्टन या मण्डल के सदस्य थे, किताबें रखने-उठाने और वितरण में हमारी मदद करते थे। किसी भी पुरानी कॉपी या रजिस्टर के बचे पन्नों में पुस्तकों के वितरण की जानकारी लिख ली जाती थी।

अपनी लायब्रेरी

अब एक सवाल और हमारे सामने था कि हम कब तक किताबें उधार लेकर काम चलाएँगे, अपनी लायब्रेरी कैसे बने? इसके लिए हमने बालसभा में बच्चों से विचार विमर्श कर उनकी सहमति से कुछ नियम बनाए। यह तय हुआ कि जो बच्चे और शिक्षक पुस्तकें लेंगे उनसे एक रुपया प्रवेश शुल्क व एक रुपया मासिक शुल्क लिया जाए। बच्चे अपने माता-पिता

से इसके लिए अनुमति लेंगे और उनकी हाँ होने पर ही पुस्तकालय के सदस्य बनेंगे। इस राशि का उपयोग किताबों के रख रखाव व नई किताबें खरीदने के लिए किया जाएगा। शुरुआत में कुछ किताबें खरीदी जाएँ और एकलव्य से भी ली जाएँ ताकि सबको किताबें मिल सकें। हमने पहली बार 39 किताबें एकलव्य से ही खरीदी थीं, साथ ही 40 किताबों की उधारी भी जारी रखी। इसके बाद धीरे-धीरे हम किताबें खरीदते गए और फिर किताबें उधार लेने की ज़रूरत नहीं पड़ी। हमने बाकायदा स्टॉक पंजी, आय-व्यय पंजी, पुस्तक वितरण पंजी जैसे रजिस्टर बनाए। करीब 45 से 50 प्रतिशत बच्चे सदस्य बने। हर शनिवार को किताबें बदली जाने लगीं। अगस्त से फरवरी तक पुस्तकालय चलता और मार्च में परीक्षाओं के चलते यह गतिविधि बन्द कर दी जाती। सामान्य उपस्थिति वाले विद्यार्थी एक सत्र में 15-16 किताबें ले लेते हैं और अपने साथियों से अदला-बदली कर के भी कुछ किताबें पढ़ लेते हैं।

लायब्रेरी के नियम-कायदे

जब एक बार लायब्रेरी शुरू हो गई तो हम लोग लगातार उसको बेहतर रूप देने के प्रयास करते रहे। किताबों पर कवर चढ़ाने के लिए हमने प्लास्टिक का इस्तेमाल किया, फिर इन्हें और मज़बूती प्रदान करने के लिए सिलाई करने के बाद कवर चढ़ाए। किताबों पर सील लगा कर क्रमांक आदि लिखना हो या स्टॉक पंजी में सूची बनाना, सभी कामों में बच्चों ने उत्साह से सहयोग किया। एक नियम और बना कि किताबें फटने व गुमने की स्थिति में बच्चे या तो किताब खरीद कर देंगे या उसकी कीमत जमा करेंगे। यह शर्त बच्चों को किताबें सही ढंग से रखने के लिए प्रेरित करने के लिए थी। हमने इसका उपयोग कम ही किया, जब कभी पैसे लिए तो या तो वही किताब खरीद ली या फिर पैसे वापस कर दिए। कई बार तो साल-छः महीने के बाद किताबें वापस आती थीं।

आम सहमति से हम कुछ बच्चों की फीस जो बहुत गरीब थे पर पढ़ने में रुचि रखते थे और केवल फीस न देने के कारण किताबें नहीं लेते थे, माफ कर देते थे। पर हमने शिक्षकों को शुल्क-मुक्त नहीं रखा। कुछ दिनों तक मैंने भी फीस देकर किताबें पढ़ी थीं। बच्चे किताबें छाँटने में तो बहुत वक्त लगाते पर रजिस्टर में नाम लिखाकर जाने की जल्दी सबको होती। लड़के हमेशा ही इसमें आगे रहते। फिर नियम बनाया कि लड़कियाँ पहले किताबें लेंगी। जब नाम आगे-पीछे और बहुत सारे होने लगे तो सबको एक-एक नम्बर दिया गया ताकि जब किताब का नाम लिखवाने आएँ तो अपना नम्बर बताएँ जिससे उस पेज पर जाकर उनके नाम पर एंट्री की जा सके। बड़ी माथा-पच्ची थी और अभी भी है, मुझे याद आता है बच्चे अक्सर

नम्बर भूल जाते और मुझसे डाँट खाते कि "क्या रे, एक नम्बर भी ठीक से याद नहीं रख पाते हो।"

पढ़ने की शुरुआत

जब सब शिक्षक साथी गप मारते या घर जाने की तैयारी करते, मैं बच्चों और किताबों में उलझी रहती। किताबें रखने-उठाने, नाम बुलाने आदि में बच्चों की मदद रहती पर रजिस्टर में एंट्री तो मुझे ही करनी पड़ती। एंट्री के समय किताब के नाम के साथ एक नम्बर जो कि किताब के ऊपर अंकित होता है उसे भी लिखवाना पड़ता था। यहीं से होती है उनके पढ़ने की शुरुआत। सही नाम और सही नम्बर न पढ़ पाने वाले बच्चे एंट्री से पहले अपने साथियों से सीखने लगते और अगर कभी न पढ़ पाते तो मैं उन्हें दुरुस्त करती। बच्चे अक्सर बड़ी और मोटी किताबें लेना पसन्द करते। मैं एंट्री के वक्त इस बात का ध्यान रखती कि पुस्तक उनके स्तर के अनुरूप हो। अगर ऐसा न होता तो मैं पुस्तक बदलकर दूसरी लेने की सलाह देती या बदल देती। कई बच्चे ज़िद करके मोटी किताब ही लेना पसन्द करते। मुझे याद है जब कमलती नाम की लड़की को मैंने कहा कि "इतनी मोटी किताब मत ले। क्या तू पढ़ पाएगी?" उसने कहा, "मैं इसी से पढ़ना सीख जाऊँगी।" किताबों में दिए चित्रों को देखकर बच्चे चित्र बनाने लगे। कभी-कभी पुस्तक में क्या पढ़ा इस पर भी बात हो पाती थी पर सामूहिक चर्चा वाला प्रयोग ज़्यादा नहीं हो सका।

इस अवधि में मैंने महसूस किया कि बच्चों को सामान्य रूप से पढ़ने-लिखने में मुश्किल होती थी। इसलिए

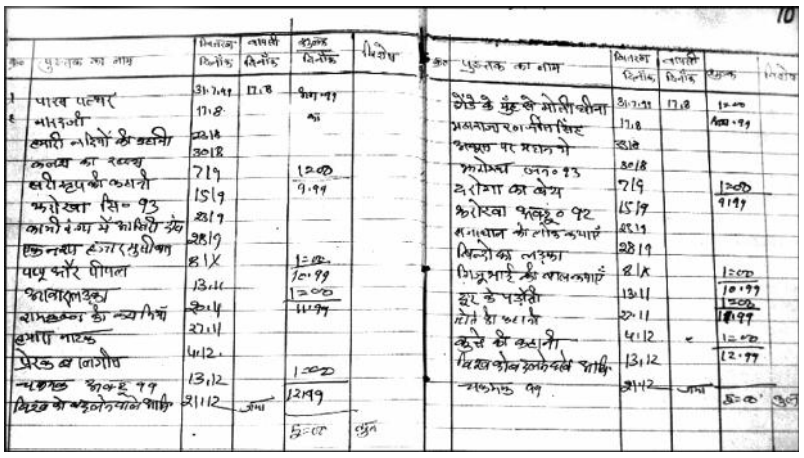

रामचरितमानस पढ़ने में भी दिक्कतें होती थीं और पाठ के दौरान अटकने के कारण लय नहीं बन पाती थी। बच्चों की रुचि भी कुछ कम नज़र आ रही थी। इसलिए हम लोगों ने निर्णय लिया कि इस तरह पढ़ने से अच्छा है कि अब रामायण का पाठ बन्द कर दिया जाए और पुस्तकालय को सुव्यवस्थित तरीके से चलाया जाए। 26.8.96 की मीटिंग में इसे क्रियान्वित कर दिया गया। मण्डल के पैसों का उपयोग पुस्तकालय के लिए होगा यह भी तय किया गया। इस निर्णय के पीछे एक विचार यह भी था कि आखिर यह एक धार्मिक ग्रन्थ है और जब हमारी शाला में अन्य धर्मों को मानने वाले भी हैं तो फिर एक धर्म-विशेष के ग्रन्थ का ही वाचन क्यों हो। यद्यपि इस आयोजन के बारे में न तो बच्चों ने और न ही गाँव के किसी व्यक्ति ने कभी कोई आपत्ति दर्ज कराई थी। सभी विद्यार्थी समान रूप से शामिल होते रहे। पर फिर भी मुझे लगता रहा कि हमें औरों की भावनाओं का भी ख्याल रखना चाहिए, खैर...।

चल पड़ी लायब्रेरी

धीरे-धीरे किताबें आती रहीं और लायब्रेरी विकसित होती गई। जब कभी भोपाल में पुस्तक मेला लगता मैं पहुँच जाती। एक-दो बार दिल्ली जाना हुआ और एन.बी.टी. के पास से गुज़री तो

वहाँ से किताबें खरीदने का लोभ संवरण न कर सकी। एकलव्य तो परमानेन्ट ठिकाना था और है भी। जब कुछ आमदनी बढ़ी तो चकमक की सदस्यता ले ली। बच्चों ने बड़ी रुचि दिखाई। एक समय जब घर में 'दैनिक भास्कर' आता था तो उसका सपलीमेंट 'बाल भास्कर' स्कूल ले गई। बच्चों ने उसे खूब पसन्द किया। जिसे देखो वही 'बाल भास्कर' लेने को तैयार रहता। बच्चों की रुचि देखकर अपनी बहनों व दोस्तों के यहाँ से मैंने 'बाल भास्कर' के अंक एकत्र कर बच्चों को उपलब्ध कराने का प्रयास किया।

जब मैंने अँग्रेज़ी पढ़ाना शुरू किया तब इस भाषा में बच्चों की रुचि जागृत करने और उन्हें पढ़ने के अवसर उपलब्ध कराने के लिए अँग्रेज़ी की किताबें लीं। कुछ किताबें ऐसी लीं जो हिन्दी और अँग्रेज़ी, दोनों में (अलग-अलग) थीं। बीजीवीएस से ली कुछ किताबें ऐसी भी थीं जो दोनों भाषाओं में एक-साथ छपी हैं। किताबें हर तरह की होती थीं – कविता, कहानी, नाटक, जानकारी आदि। पर देखने में आता कि बच्चे कहानी पढ़ना ज़्यादा पसन्द करते हैं।

और फिर ऐसा कुछ हुआ कि हमारी लायब्रेरी किताबों से भर गई। साक्षरता अभियान के दौरान गाँव-गाँव में पुस्तकालय खोलने के लिए शासन ने काफी मात्रा में पुस्तकें उपलब्ध करवाईं थीं। इनका वितरण जनशिक्षा केन्द्रों के मार्फत होना था। उन दिनों हमारा

स्कूल जनशिक्षा केन्द्र था। जब अन्य गाँवों की सारी किताबें ले जाने में लोगों ने रुचि नहीं दिखाई तो जनशिक्षक ने बची हुई किताबें हमारी लायब्रेरी में दे दीं। यह वाकया सन् 1998-99 का था। फिर एन.बी.टी. के द्वारा पाठक मंच के तहत कुछ किताबें भेजी गईं और साथ में पाठक मंच बुलेटिन नामक मासिक पत्रिका भी। पत्रिका में सामग्री हिन्दी और अँग्रेज़ी में होती है। अँग्रेज़ी की अधिकता की वजह से यह बच्चों में ज़्यादा जगह नहीं बना पाई।

सन्दर्भ ग्रन्थ की तरह इस्तेमाल

चकमक पत्रिका तो बच्चों की पसन्दीदा रही। जब विज्ञान के किसी प्रयोग का ज़िक्र करती या फिर ऑरीगैमी से कुछ बनवाती तो उसकी मांग और बढ़ जाती। अध्यायों के साथ जुड़ने वाली किताबें भी बच्चे पसन्द करते रहे हैं। विज्ञान में कीड़े-मकोड़ों के बारे में पढ़ने के बाद 'कीड़ों की कहानी कीड़ों की ज़ुबानी' या 'सरीसृपों की कहानी' ज़्यादा ली जाने लगीं। अँग्रेज़ी में 'चिपको आन्दोलन' के बारे में पाठ पढ़ाने के बाद जब मैंने बताया कि अपनी लायब्रेरी में उपलब्ध पुस्तक 'चिपको की चिंगारी गौरा देवी' में इस आन्दोलन के बारे में विस्तार से बताया है तो बच्चों में उसको पढ़ने की जिज्ञासा बढ़ गई। ऐसी ही स्थिति ओरछा के बारे में पढ़ने के बाद 'हरदौल'

की रही। संस्कृत में 'इन्दिरा प्रिय-दर्शिनी' पाठ पढ़ने के बाद 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' बच्चों द्वारा खूब पढ़ी गई। विवेकानन्द केन्द्र से ली रामकृष्ण परमहंस एवं विवेकानन्द पर आधारित कॉमिकनुमा किताबें भी बच्चों ने काफी पसन्द कीं। एक बात और - बच्चों में नई दिखने वाली किताबों का आकर्षण भी ज़्यादा नज़र आता है। चित्रकथाओं में उनकी दिलचस्पी कम नज़र आई, वे कहते, "इसमें तो कुछ लिखा ही नहीं।" वैसे उनकी इस गलतफहमी को दूर करने का प्रयास भी किया मगर ज़्यादा सफलता नहीं मिली। इस पर शायद और काम करने और व्यक्तिगत रूप से बात करने की ज़रूरत थी।

ढाँचे और फीस में बदलाव

बस इसी तरह चलती रही हमारी लायब्रेरी। समय के साथ कभी गतिमान तो कभी अवरुद्ध-सी। इतने बरसों में शैक्षिक परिदृश्य में कई बदलाव हुए। उनका असर तो पड़ेगा ही। एक बड़ा बदलाव तो हमने समय-समय पर लायब्रेरी की फीस के ढाँचे में किया। 2000 के सत्र की शुरुआत की बैठक में हमने पहले लिया जाने वाला प्रवेश शुल्क समाप्त कर दिया। अब सिर्फ एक रुपया मासिक शुल्क लिया जाने लगा। 8 जुलाई 2003 की बैठक में बच्चों से बातचीत में यह आया कि एक रुपया तो बहुत कम होता है इसलिए अब शुल्क दो रुपया कर दिया जाए। इस अवधि में बच्चों की संख्या में कुछ विशेष अन्तर नहीं आया। पहले की तरह स्कूल के 45 से 50 प्रतिशत बच्चे लायब्रेरी की सदस्यता और किताबें लेते रहे।

एक और बात उल्लेखनीय है, इस दौरान हमारी संस्था में जितने भी शिक्षक साथी रहे उन सब की ओर से दिया जाने वाला समर्थन। अधिकांश समय तक तो हमारी शाला प्रधान पाठक विहीन रही – जो प्रधान पाठक आए उन्होंने भी इस मामले में कभी ज़्यादा दखलअन्दाज़ी नहीं की। श्री गोपालप्रसाद शर्मा और श्री अरुण साकल्ले, इन दोनों के सर्मथन और सम्बल को मैं कभी नहीं भूल सकती। सारे वरिष्ठों ने मेरी हर योजना को सहर्ष स्वीकार किया। जब कभी कहा, "सर पुस्तकालय शुरू कर लूँ?", जवाब मिलता, "कर लो"। "सर किताबें लाना हैं", "तो ले लो।" कहाँ से किताबें लेती हूँ, कितने की लेती हूँ, कौन-सी लेती हूँ, कभी कोई अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं। किसी भी प्रस्ताव को स्वीकृत करने में देर नहीं करते। जब कभी हिसाब-किताब दिखाती तो बिना किसी छान-बीन के हस्ताक्षर कर देते थे। मुझे लगता कि भाई ये हिसाब तो ठीक से देखें जिससे कोई गड़बड़ी का आरोप न लगे। कभी-कभी मेरा मज़ाक भी बनाते कि जब देखो तब एक-एक रुपया गिनने में लगी रहती है। वैसे मुझे यह सब भाता तो नहीं था पर यह करना लायब्रेरी की ज़िम्मेदारी का अहम हिस्सा था, सो करती रही।

नई व्यवस्थाएँ

एक जुलाई 2005 की पालक शिक्षक संघ की बैठक में निर्णय लिया गया कि प्रवेश के समय शाला विकास निधि में से 5 रुपए प्रति छात्र ले लेंगे जिससे हम पुस्तकालय की व्यवस्थाएँ संचालित करेंगे और सारे छात्र-छात्राओं को पुस्तकें पढ़ने को दी जाएँगी। नई व्यवस्था ने मेरे काम को काफी हल्का कर दिया। इस समय तक शाला में नए प्रधान पाठक आ गए थे। उस वक्त तो उन्होंने स्वीकार कर लिया पर अगले वर्षों में उन्होंने इस व्यवस्था को जारी रखने से इन्कार कर दिया। सो हिसाब-किताब की माथा पच्ची तो मुझसे छूट गई। 2005-2006 में सरकार की ओर से चार-पाँच हज़ार रुपए मिले थे, पुस्तकालय की पुस्तकें खरीदने के लिए, सो हमारे प्रधान पाठक कुछ पुस्तकें ले आए। किताबें तो हो गईं लेकिन उनकी मरम्मत के लिए कवर आदि की व्यवस्था बन्द हो गई। मैं बच्चों से अपने तरीकों से किताबें दुरुस्त करने को कह देती थी। चकमक भी अगले 2-3 साल में बन्द हो गई। पर फिर भी हमारी लायब्रेरी चलती रही।

इस दौरान परीक्षाओं और मूल्यांकन को लेकर जो बदलाव हुए उसने हमारी व्यवस्थाओं को बहुत प्रभावित किया। हर माह अनुत्तीर्ण व अनुपस्थित रहने वाले विद्यार्थियों के टेस्ट और ग्रेडिंग के चक्कर में कई बार हमारे शनिवार खप जाते और पुस्तकालय का काम छूट जाता। इस सबके लिए हर साल नए नियम कानूनों से हमें दो-चार होना पड़ता है। इस पूरे दौर में हमारा स्कूल दो पारियों वाला रहा। सिर्फ 2-3 साल हम सिंगल पारी का स्कूल लगा सके। दो साल हाई स्कूल के साथ शाला लगी तो 9वीं के छात्रों ने भी किताबें पढ़ीं, पर फिर 10वीं की परीक्षा के प्रैशर ने उन्हें पीछे हटने पर

मजबूर कर दिया।

लायब्रेरी प्रोजेक्ट

फिर एक ताज़ी हवा के झोंके की तरह एकलव्य का लायब्रेरी प्रोजेक्ट आया। सन् 2010-11 में स्कूलों में पुस्तकालय-सह-गतिविधि केन्द्र की तर्ज़ पर काम करने की योजना बनी। अब्दुल भाई जैसे योग्य, कर्मठ एवं बच्चों के साथ काम में अनुभवी व्यक्ति के साथ कार्य करने का मौका मिला। कुछ नई किताबों के साथ एक नया जोश आया। इस दौरान लायब्रेरी संचालन के साथ ही हमने स्कूल के बच्चों के साथ ऑरीगैमी, मुखौटे बनाना, नाटक, दीवार अखबार बनाने जैसी गतिविधियाँ आयोजित कीं। पर फिर लगभग साल भर के बाद ही अब्दुल भाई अपनी पढ़ाई के लिए बैंगलोर चले गए और पुस्तकालय के अलावा अन्य सारी गतिविधियाँ ठप हो गईं। इसी बीच शासन द्वारा स्कूलों में लायब्रेरी को लेकर कुछ जानकारियाँ चाही जाने लगीं जैसे लायब्रेरी है या नहीं, कब-कौन संचालित करता है, पुस्तकें कितनी हैं.....आदि आदि। ज़ाहिर है, मुझे ही सब सूचनाएँ देनी होती हैं और प्रतिभा पर्व के दौरान सारे एविडेंस भी दिखाने होते हैं।

वर्तमान सत्र में बाल कैबिनेट के गठन के साथ ही पुस्तकालय के संचालन को जोड़ दिया गया है। शिक्षा मंत्री व उसके समूह के सदस्यों के काम में से एक मुख्य काम पुस्तकालय का संचालन भी है। इस बार मैंने हर कक्षा के बच्चों को अलग-अलग रजिस्टर व अलग-अलग वितरण कार्य की ज़िम्मेदारी दे रखी है। अलमारी से अपनी कक्षा की किताबें व रजिस्टर ले जाकर बच्चे वितरण कार्य करते हैं और मैं प्रत्येक समूह में जाकर सहयोग करती हूँ।

मेरी बड़ी तमन्ना थी कि गर्मियों की छुट्टियों में पुस्तकालय चले। खूब सारी गतिविधियाँ हों, बच्चे नृत्य, गीत, संगीत, नाटक और विभिन्न शिल्पों को जानें, समझें और मज़े करें। क्योंकि साल भर में हम केवल इनकी झलक भर ही दिखा पाते हैं। पर दोनों तरफ से केवल बात ही होकर रह जाती। बच्चे छुट्टियाँ शादी-ब्याह में घूमने-फिरने में बिताना पसन्द करते हैं। हमें भी ट्रेनिंग आदि में समय देना होता है। अस्तु यह स्वप्न अभी अधूरा है। शायद कभी पूरा हो।

शोभा वाजपेयी: शासकीय माध्यमिक विद्यालय, ऊड़ा, ज़िला हरदा में शिक्षिका हैं। एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम और सामाजिक अध्ययन कार्यक्रम के स्रोतदल की सक्रिय सदस्य रही हैं।

सभी फोटो: शोभा वाजपेयी।